वसुधैव कुटुम्बकम् की भावना

Dr. Geeta Devi
Assistant Professor (Sanskrit Deptt.)
Maharani Padmavati Govt. College for Women, Shahzadpur (Ambala)

वसुधैव कुटुम्बकम् सनातन धर्म का मूल संस्कार तथा विचारधारा है जो महा उपनिषद सहित कई ग्रन्थों में लिपिबद्ध है। इसका अर्थ है- धरती ही परिवार है (वसुधा एव कुटुम्बकम्)। यह वाक्य भारतीय संसद के प्रवेश कक्ष में भी अंकित है।अयं निजः परोवेति गणना लघुचेतसाम् । उदारचरितानां तु वसुधैवकुटुम्बकम् ॥ (महोपनिषद् अध्याय ६, मंत्र ७१)अर्थ - यह मेरा अपना है और यह नहीं है, इस तरह की गणना छोटे चित्त (सञ्कुचित मन) वाले लोग करते हैं। उदार हृदय वाले लोगों के लिए तो (सम्पूर्ण) धरती ही परिवार है।

अर्थात् यह संपूर्ण पृथ्वी हमारे लिए अपने घर के समान है चाहे कोई आस्ट्रेलिया में हो, अमेरिका में हो या विश्व के किसी भी कोने में विद्यमान हो वह व्यक्ति हमारे लिए माता, बहन, बन्धु एवं मित्र के समान है |वसुधैव कुटुंबकम का दर्शन एक बेहतर दुनिया के लिए एक दृष्टिकोण प्रदान करता है जो करुणा, सहयोग, व्यक्तिगत जिम्मेदारी, विविधता, समावेशिता, संघर्ष समाधान, पर्यावरणीय प्रबंधन, सामाजिक न्याय, नवाचार और रचनात्मकता के सिद्धांतों पर बनाया गया है। यह प्रेम, दया और सम्मान के सिद्धांतों द्वारा निर्देशित एक अधिक न्यायसंगत और बेहतर दुनिया बनाने के लिए एक दिशा प्रदान करता है।यह सामाजिक न्याय और समानता पर बहुत जोर देता है। यह असमानता और भेदभाव को खत्म करने और एक ऐसी प्रणाली बनाने के महत्व को पहचानता है जो सभी के लिए निष्पक्षता और न्याय को बढ़ावा देती है।

आधुनिक युग ज्ञान-विज्ञान, बौद्धिकता एवं भौतिकता का है जिसने पूरे विश्व को तो समीप ला दिया है परन्तु मानव को मानव से कोसों दूर कर उसके अन्तःकरण को सर्वतः प्रदूषित कर दिया प्रतीत होता है| यूं तो ज्ञान-विज्ञान, बौद्धिकता तथा भौतिकता मनुष्यमात्र के लिए नितान्त आवश्यक एवं महत्वपूर्ण हैं परन्तु इनकी अतिरंजना और एकांगिता ने मानव-जीवन में अनेकों विसंगतियों, बहुतेरी विश्रृंखलताओं, असंख्य विषमताओं एवं बहु-विध विडम्बनाओं को उत्पन्न कर मानव को मानवता से दूर कर दिया है। नवयुग के वरदान 'अभिशाप' बन गए हैं और मानव 'न घर का, न घाट का' कथन को चरितार्थ करता हुआ असहाय दिखाई दे रहा है। वस्तुतः मानव को इस संकट से उभारने में 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्'[1] 'मनुर्भव,[2] 'तमसो मा ज्योतिर्गमय[3]', 'वसुधैव कुटुम्बकम्[4] सदृश असंख्य सार्वभौम वचनों से अनुप्राणित भारतीय आर्य-संस्कृति ही सक्षम प्रतीत होती है।

नीति की नितान्त स्वार्थमूलक उद्घोषणा-'आत्मार्थे पृथिवी त्यजेत्[5] के विपरित, समग्र भारतीय संस्कृत साहित्य 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की गूंज से अहर्निश प्रतिध्वनित होता हुआ प्रतीत होता है। जहां एक ओर, भारतीय संस्कृति अन्योन्य भाईचारे, मनुर्भव, विश्वबन्धुत्व के प्रतीक-वेद, उपनिषद्, रामायण, महाभारत-आदि आर्ष-ग्रन्थ मानव को ''सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः। सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्।।'' के रूप में सहस्रों वर्षो से प्रेरित करते हुए दिखाई देते हैं; तो दूसरी ओर, श्रीमद्भगवद्गीता, चाहे अध्यात्म-पक्ष का ही सन्दर्भ क्यों न हो 'सर्वभूतहिते रताः,'[6] 'पण्डिताः सभदर्शिनः'[7] का पाठ प्राणिमात्र को पढ़ाती हुई दिखाई देती है।

गीता का संवाद उन दो आत्माओं में सम्पन्न हुआ है जिनमें एक का अन्तःकरण बन्धु-बान्धवों की ममता के मोह से आच्छादित है, तो दूसरे की आत्मा विश्वस्थिति से परिपूर्ण मानवता के एकीकरण (विश्व-बन्धुत्व) से ओतप्रोत है। अतएव श्रीकृष्ण का मन्तव्य है कि, 'जो प्राणी सब प्राणियों में स्वयं को और स्वयं में सभी प्राणियों को देखता है, वही समदर्शी विश्व-बन्धुत्व को तत्त्वतः जान लेता है।'[8] सम्भवतः मानव में इस प्रकार की समदृष्टि उत्पन्न होते ही उसमें 'स्व-पर' कुटुम्बकत्व की संकुचित मोहकता स्वतः निरुन्मूल हो उसे व्यष्टि से समष्टि की ओर प्रवृत्त कर देती है। 'गीता' का मानना है कि, विश्व में व्यक्ति और व्यक्ति में विश्व समाया हुआ है।

भारतीय संस्कृति के आदि-स्रोत-वेद, पुराण, महाभारत, धर्मशास्त्रों का-एक ही स्वर है कि परमात्मा की विचित्र चराचर सृष्टि में मानव से श्रेष्ठ अन्य कोई प्राणी नहीं है।[9] इस पर भी सुमति ही प्राणियों की कल्याणप्रद है और वेद भगवान् का कथन है कि सच्ची मानवता (विश्वबन्धुत्व की भावना) सुमति द्वारा ही सम्भव है।[10] जैसे हम सदैव अपने लिए शुभ के इच्छुक हैं वैसे ही अन्य प्राणियों के प्रति भी बनें, हम सबके साथ मित्रभाव से व्यवहार करें; हमें भी लोग मित्र की दृष्टि से देखे[11]-यह सब तभी सम्भव है जब हम सांसारिक प्राणियों के हितेच्छु बनें। 'गीता' का भी यही सार है।[12] इसके पूर्णतया विपरीत, क्या सृष्टि के सर्वश्रेष्ठ प्राणी के स्थान पर विराजमान मानव को मानवता अपने ही खून के लिए पिपासित नहीं हो जाती? क्या हीरोशिमा-नागासाकी के भंयकर बीभत्स-नृशंतापूर्ण काण्ड का नियोजक परमात्मा का यह (अमृतपुत्र) 'मानव' ही नहीं है? क्या महाभारत में एक ही परिवार (वंश) के सदस्य परस्पर बन्धु-बान्धवों को धराशयी बनाने के लिए तत्पर दिखाई नहीं देते? सम्भवतः सुमति-समदृष्टि के बिना उसकी प्रसुप्त निष्ठुरता-क्रूरता विकराल ताण्डव करने लगती है। 'अथर्ववेद' का वचन है कि जो विश्व-सुख के (याज्ञिक) कर्म करता है, जो विश्व का भरण-पोषण करने लिए यत्नवान् होता है, वही 'विश्वजित्' कहलाता है।[13] ऐसा मानव ही विश्व (मानवता) के हितकर्म करने में समर्थ होता है। 'गीता' के एक पद्य में भी ऐसा ही भाव अनुस्यूत है कि, 'उसका वह कर्म सबका, सबके लिए, सभी में लीन होने और करने वाला होता है अर्थात् वह सभी के लाभार्थ होता है।[14] ऐसे विश्वजित् एवं याज्ञिक कर्म से सम्पन्न मानव की मनोवृत्तियां समदर्शी बन जाती हैं। 'गीता' की मान्यता है कि, ब्रह्म ज्ञानी के लिए ब्राह्मण, चाण्डाल, पशु-पक्षी सभी एक समान होते हैं।' गीता का यही विश्वबन्धुत्वपूर्ण-दर्शन मानव को मानव के समीप लाने में सहायक हो सकता है। अन्यथा अर्जुन का श्रीकृष्ण के प्रति प्रश्वाचक चिन्ह् मानवीय मनोवैज्ञानिता का स्टीक उत्तर है - 'माधव! स्वजनों को मार कर हम कैसे सुखी हो सकते हैं ?[16]

'वसुधैव कुटुम्बकम्' के परिप्रेक्ष्य में योगेश्वर श्रीकृष्ण कहते हैं कि 'जिसके सभी कर्म भोगों के विचार से रहित है, जो (सम) एकीकरण या संघटना के लिए कर्म आरम्भ करता है, किन्तु अपने भोगों की लालसा उसमें नहीं होती वही व्यक्ति विश्व-बन्धुत्व की ओर अग्रसर हो सकता है।[17] मनुष्य जैसा कर्म करेगा, उसे वैसा ही फल मिलेगा।[18] मानव को कर्म-अकर्म-विकर्म का ज्ञान होना आवश्यक है, 'कर्म किया जाने पर भी जो व्यक्ति न करने वाले के समान निर्लिप्त-सा बना रहता है अर्थात् उस कर्म के फल से प्रभावित नहीं होता वही 'मानवता' को अपने जीवन में सत्यापित कर सकता है।[19]

एवमेव, जो पुरुष कर्मफल की आसक्ति को त्याग देता है, जो सदा सन्तुष्ट, सुखी और प्रसन्नचित रहता है, जो अपने सुख के लिए किसी दूसरे पर आश्रित नहीं होता[20], जिसमें भोगों की लालसा नहीं होती अर्थात् जो अपने भोगों को पूर्ण करने की आकांक्षा को धारण नहीं करता; जिसने अपना मन, चित्त, अन्तःकरण अपने अधीन किया हुआ है, जिसने वस्तु-संग्रह को छोड़ दिया है। स्वतः भोजन, वस्त्र आदि मिल जाने से सन्तुष्ट, सुख-दुःखादि द्वन्द्वातीत, ईर्ष्या-द्वेषरहित, सफलता-असफलता के लिए समभाव वाला अर्थात् सुख मिलने पर गर्वित, दुःखप्राप्ति से हताश, लाभ होने पर अहंकार, हानि से त्रस्त, कार्यसिद्धि पर उन्मत तथा असिद्धि से निरुत्साहित नहीं होता।[21] जिसने भोगों का संग छोड़ दिया है, जो सांसारिक सारे बन्धनों से मुक्त

हो चुका है और जिसका ब्रह्मज्ञान में चित्त स्थिर रहता है अर्थात् ब्रह्मज्ञान में चित्त स्थिर रहता है अर्थात् ब्रह्मज्ञान के विषय को छोड़ अन्य भौतिक विषयों में नहीं भटकता[22]-ऐसा मानव ही विश्व को स्वकुटुम्ब की दृष्टि से देख सकता है।

श्रीमद्भगवद्गीता के बारहवे अध्याय में कर्म-योगी श्रीकृष्ण ने यद्यपि अपने अनन्य भक्त के लक्षण कहे हैं, तदपि उन्हें सर्वकालिक तथा सार्वभौम समदर्शी भावना से संवलित स्वीकार किया जा सकता है। भक्त के लिए प्रयुक्त सभी विशेषण 'वसुधैव-कुटुम्बकम्' के प्रसंग में भी पूर्णतया चरितार्थ हुए दिखाई देते हैं - जो सांसारिक सभी प्राणियों से द्वेष न करने वाला, हो, (सभी प्राणियों का) मित्र, (सभी प्राणियों पर) दया करने वाला, मैं और मेरे की भावना से रहित, निरहंकार, सुख-दुःख में समान रहने वाला, क्षमाशील,[23] सदैव सन्तुष्ट रहने वाला, योगी, आत्मसंयमी, मुझ में दत्तचित्त[24]; संसार का कोई भी प्राणी जिससे उद्विघ्न न होता हो और जो लीक के उद्विघ्न न होता हो, जो हर्ष-क्रोध-भय तथा अन्य उद्वेगों से मुक्त हो;[25] जो (कुछ भी) अपेक्षा नहीं रखता, (आचार-व्यवहार में) पवित्र, कुशल, (शत्रुता-मित्रता से) तटस्थ, पीड़ारहित[26], सभी प्रकार के कर्मो में कर्त्तापन के अभिमान से रहित, न प्रसन्न होता हो, न ही द्वेष करता हो, न चिन्ता करता हो, न ही कुछ चाहता हो, अच्छे-बुरे का त्याग करने वाला, (मुझ में) भक्तिमान्[27]; शत्रु-मित्र के विषय में समभाव वाला, मान-अपमान के विषय में समदर्शी, सर्दी-गर्मी तथा सुख-दुःख के विषय में समदृष्टि वाला, आसक्तिहीन[28]; निन्दा-स्तुति पर समान, मौन रहने वाला, जिस-किसी वस्तुप्राप्ति पर सन्तुष्ट, गृहहीन तथा स्थिरबुद्धि वाला व्यक्ति[29] 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के विकासपथ पर किस प्रकार अग्रसर नहीं होगा? इसी प्रसंग में 'गीता' के द्वितीय अध्याय में उपस्थापित 'स्थितप्रज्ञ' के लक्षण भी ग्राह्य प्रतीत होते हैं - दुःख-प्राप्ति पर जिसके मन में उद्वेग नहीं होता, सुख-प्राप्ति पर जो सर्वथा निःस्पृह है तथा जिसके राग-द्वेष, भय-क्रोध नष्ट हो गए हैं-ऐसा मुनि 'स्थिर बुद्धि' कहा जाता है।[30] जो पुरुष सम्पूर्ण कामनाओं को त्याग कर ममतारहित, अहंकाररहित और स्पृहा-रहित हुआ विचरण करता है-वही शान्ति को प्राप्त होता है।[31]

श्रीमद्भगवद्गीता को तो आधुनिक समय में 'समता' का राजदूत कहा जा सकता है। प्रायः इसके सभी प्रसंगों में श्रीकृष्ण ने 'समता' के स्वरूप को उभारा है जिसे हम 'समदृष्टि', समदर्शी', 'समत्व' के माध्यम से 'वैश्वीकरण', 'विश्वबन्धुत्व' अथवा 'वसुधैव कुटुम्ब-कम्' की परिकल्पना कर सकते हैं।[32] मनुष्यों में समता[33]; मनुष्यों, पशु-पक्षियों में समता[34]; सम्पूर्ण जीव-जगत् में समभाव[35]; कहीं-कहीं व्यक्ति, क्रिया, पदार्थ और भाव की समता का एक ही साथ अडकन[36]; इस तरह जो मानव-समदृष्टि है, व्यवहार में कथन-मात्र की अहंता-ममता रहते हुए भी जो चराचर जगत् के प्रति समबुद्धि रखता है, जिसका समष्टि स्वरूप संसार में समभाव है, वही समतायुक्त मानव है, वही वस्तुतः सच्चा साम्यवादी है, वही 'वसुधैव कुटुम्बकम् का अनुयायी भी। श्रीकृष्ण तो अर्जुन को समझाते हुए कहते हैं कि, हे अर्जुन! निरासक्त हो कर्म की पूर्णता-अपूर्णता, सफलता-असफलता में समबुद्धि प्राप्त कर।[37]

यद्यपि श्रीमद्भगवद्गीता के सोलहवें-अट्ठारहवें अध्यायों में दैवी-सम्पदा से समन्वित तथा सात्त्विक ज्ञान से परिपूत भक्त की चर्चा उपलब्ध है; तदपि सारी दैवीसम्पदा एवं सात्त्विक गुण 'समदर्शिता' के रूप में भी अपरिहेय माने जा सकते हैं जिनके सह-अस्तित्व से 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की अवधारणा सिद्ध हो सकती है-मन, वाणी, शरीर से किसी भी प्रकार का किसी को कष्ट न देना, यथार्थ और प्रिय भाषण, अपना अपकार करने वाले पर भी क्रोध न करना, कर्मो में कर्त्तापन के अभिमान का त्याग, अन्तःकरण कर उपरित अर्थात् चित्त की चंचलता का अभाव, किसी की निन्दा आदि न करना, सब भूतप्राणियों हेतुरहित दया, इन्द्रियों का विषयों के साथ संयोग होने पर भी उनमें आसक्ति का न होना, हृदय की कोमलता, लोक और शास्त्र के विरूद्ध आचरण में लज्जा और व्यर्थ की चेष्टाओं को अभाव[38]। इसी तरह तेज, क्षमा, धैर्य, बाहिर की शुद्धि, किसी में भी शत्रुभाव का न होना और स्वयं में पूज्यता के अभिमान का आभाव[39]। विश्वबन्धुत्व के विनाशक काम-क्रोध-लोभ के

त्याग की 'गीता' ने संस्तुति[40] की है। जो कर्त्ता संगरहित, अहंकारयुक्त वचन न बोलने वाला, धैर्य-उत्साह से समन्वित, कार्य सिद्ध न होने पर हर्ष-शोकादि-विकार रहित हो, वही 'सात्त्विक' भाव वाला[41] कहलाता है। इन सात्त्विक भावों से युक्त प्राणी (मानव) सच्चिदानन्द ब्रह्म में एकीभाव से स्थित, प्रसन्नचित्त (वह) न किसी के लिए शोक और न ही किसी की आकाँक्षा करता है। ऐसा समस्त प्राणियों के प्रति समभाव वाला पुरुष-मेरी परा भक्ति को प्राप्त हो जाता[42] है।

इस प्रकार 'श्रीमद्भगवद्गीता' का प्रमुख उद्देश्य-मानव में आस्था, श्रद्धा, निष्ठा और विश्वास को जगाना, उपयुक्त मानवीय (सात्त्विक) गुणों की विकसित करना, उसे (मानव को) इच्छाओं, भावनाओं को संयमित करना सीखना, समाज में औचित्य-परायण दृष्टि रखते हुए विवेकपूर्ण व्यवहार करना, दिव्य संस्कारों तथा उनमें पनपने वाले सद्गुणों में सबको प्रसन्न रखने वाला सदाचार, सर्वसन्तोषकारी न्यायनिष्ठ, राग-द्वेषरहित तथा सर्वाल्हादक भ्रातृभाव, अपने पुरुषार्थ से सभी को प्रफुल्लित करने वाली सेवाशीलता, सबके हितों का सरक्षण करने वाली त्यागवृति, चरित्र को सुगठित और पवित्र् बनाने वाली संयमशीलता, मानव मात्र को सुव्यवस्थित रूप में संचालित करने वाली नियामकता, किसी को भी कष्ट देकर रुष्ट न करने वाली सहिष्णुता, निरन्तर कार्यरत रखने वाली निष्काम कर्मठता, जीवन-शक्ति का अपव्यय न करने वाली सतर्कता, पूर्णता-अपूर्णता, सिद्धि-असिद्धि में समत्व का संकल्प, वैश्वीकरण की समदर्शिता, रणक्षेत्र में किंकर्त्तव्यविमूढ अर्जुनसदृश शोक-मोह निवृत्ति-है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि वसुधैव कुटुंबकम एकता और परस्पर जुड़ाव का एक शक्तिशाली संदेश है जो दुनिया में सकारात्मक बदलाव लाने की क्षमता रखता है। यह मानता है कि हम सभी एक वैश्विक परिवार का हिस्सा हैं और हमें एक-दूसरे के साथ सम्मान, करुणा और दया का व्यवहार करना चाहिए। इस अवधारणा को अपनाकर हम अपने लिए और आने वाली पीढ़ियों के लिए एक अधिक सामंजस्यपूर्ण और बेहतर दुनिया बनाने की दिशा में काम कर सकते है

संस्कृत भारत की सबसे पुराणी भाषाओँ में से एक है और इसी से ''वसुधैव कुटुंबकम'' जैसे महान विचार की उत्पत्ति हुई है। वसुधैव कुटुंबकम का दर्शन सद्भाव और गरिमा को प्रोत्साहित करता है और स्थिरता, समझ और शांति को आगे बढ़ाकर दुनिया को बेहतर बनाने की क्षमता रखता है। इस अवधारणा को अपनाकर, हम सभी के लिए एक बेहतर, अधिक समावेशी और सामंजस्यपूर्ण दुनिया बनाने की दिशा में काम कर सकते हैं। वसुधैव कुटुंबकम की भावना को आज पुरे विश्व ने समझ लिया है और इसे बढ़ावा देने की ओर महत्वपूर्ण कदम उठाए जा रहे हैं। वसुधैव कुटुंबकम का दर्शन विभिन्न संस्कृतियों, भाषाओं और परंपराओं की समृद्धि को बढ़ावा देता है। यह विविधता और समावेशिता के महत्व को पहचानता है और लोगों को एक-दूसरे से सीखने के लिए प्रोत्साहित करता है। यह रूढ़ियों को तोड़ने और सामाजिक एकीकरण को बढ़ावा देने में मदद कर सकता है।

जैसे सभी सरिताओं का विलय (समागम)-स्थान सागर है, जड़-चेतन सृष्टि का उपादान-स्थान ब्रह्म है, सर्वविध ज्ञान-विज्ञानों का उद्भव-स्थान नित्य विज्ञान है; वैसे ही समग्र धार्मिक, दार्शनिक विद्याओं का समावेश-स्थान, सार्वभौम भक्ति-सृष्टि का उपादान-स्थान तथा 'वसुधैव कुटुम्बकम् आदि का समागम स्थान सर्वशास्त्रमयी 'श्रीमद्भगवद्गीता' ही है क्योंकि गीता और गीतातत्व-ये दोनों ही पराकाष्ठापन्न दिव्य वस्तु हैं। वस्तुतः 'गीता' तो एक अचूक 'रामबाण' है जो इस धरा पर मानव को मनसा-वचसा-कर्मणा 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का पुनः पुनः स्मरण करवाती रहेगी। इसलिए तो -

गीता सुगीता कर्त्तव्या किमन्यैः शास्त्रसंग्रहैः।

या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद विनिःसृता।। (महा0 भी0 प0 43.2)

सन्दर्भः-

1. ऋ0 9.63.4.5.

2. वही, 10.53.6.

3. बृ0उ0 1.3.28.

4. हितोपदेश 1.70.

5. पं0त0 1.386; चाण0नी0 3.10.

6. गीता0 5.25 एवं 12.8.5.4.

7. वही, 5.18.

8. वही, 6.29.

9. मनु0 1.96.

महा0 शाँ0 प0 299.20.

भागवत 7.

10. ऋ0 1.89.2.

11. यजु0 36.18.

12. गी0 6.29.

13. अथर्व0 4.11.5.

14. गी0 4.23.

15. वही, 5.18.

16. वही, 1.37.

17. वही, 4.19.

18. वही, 9.25.

19. वही, 4.18.

20. वही, 4.20.

21. वही, 4.22.

22. वही, 4.23.

23. वही, 12.12.

24. वही, 12.13.

25. वही, 12.15.

26. गीता, 12.16.

27. वही, 12.17.

28. वही, 12.28.

29. वही, 12.19.

30. वही, 2.56.

31. वही, 2.71.

32. वही, 2.15; 2.48; 6.7; 14.25.

33. वही, 6.9.

34. वही, 5.18.

35. वही, 6.32.

36. वही, 14.28.

37. वही, 2.4.8.

38. वही, 16.2.

39. वही, 16.3.

40. वही, 16.21.

41. वही, 18.26.

42. वही, 18.54.